हिंदी सिनेमा और साहित्य में चित्रित किसान

डॉ. अंजु

सहायक प्रोफसर हिंदी विभाग

श्री गुरु नानक देव खालसा कॉलेज, दिल्ली

समाज को बदलने की ताकत साहित्य और सिनेमा में सबसे अधिक है। सिनेमा, साहित्य से अधिक प्रभावशाली और आम जनता तक सरलता से पहुंचने वाला माध्यम है। साहित्यकार सिनेमा को साहित्य का हिस्सा मानने से हमेशा हिचकते रहे हैं, जबकि सिनेमा का आरंभ ही साहित्य से होता है। साहित्य और सिनेमा हमेशा ही एक दूसरे के विस्तार में सहयोगी रहें हैं। यानी साहित्य और सिनेमा एक दूसरे के पूरक हैं। भारत में बनने वाली पहली फीचर फिल्म भी आधुनिक हिंदी साहित्य के जनक भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटक 'हरिश्चंद्र' से प्रेरित थी। प्रारंभ से ही हिंदी सिनेमा में साहित्य की भूमिका अहम रही है। आज भारत में फिल्म उद्योग ने सौ साल से ज्यादा का सफर तय कर लिया है। भारत जैसे बहुभाषी और बहु-सांस्कृतिक परंपरा वाले देश में इसकी व्यापक पहुंच ने इसे लोगों के मनोरंजन का सर्वाधिक लोकप्रिय माध्यम बना दिया है। सिनेमा में विभिन्न विषयों को लेकर फिल्मों का निर्माण निरन्तर हो रहा है परंतु आज कृषि और किसान जैसे महत्वपूर्ण विषय पर सिनेमा का दृष्टिकोण उपेक्षित है क्योंकि भारत में आज भी कृषि को किसी पेशे की नजर से नहीं देखा जाता है, शायद यही वजह है कि भारतीय सिनेमा की नजर कृषि पर बहुत ही कम पड़ती है। सिनेमा में हर चरित्र को हिरो के रूप में प्रदर्शित किया जाता है, लेकिन उस हीरो के बारे में बहुत कम दिखाया जाता है जो दिन रात एक करके सबका पेट भरता है। कृषि पर आधारित फिल्मों की संख्या कम है। इस लेख में उन कुछ फिल्मों का उल्लेख कर रही हूं, जिनमे किसान और उनकी समस्याओं को प्रदर्शित किया गया है। कहा जाता है, कि असली भारत गांवों में बसता है परंतु इन फिल्मों को देखकर चलता है कि इन गांवों में रहने वाले किसानों का हाल क्या है? सबसे पहले किसान समस्या पर फिल्म आई—1953 में दो बीघा जमीन:--भारतीय किसान के दर्द को पर्दे पर उकेरने वाली यह पहली फिल्म थी जिसमें एक बेदखल किसान का जीवंत चित्रण है। एक किसान के माध्यम से यह फ़िल्म सम्पूर्ण भारतीय किसान-समाज का मानवीय चित्रण प्रस्तुत करती है। इस फ़िल्म में सार्वकालिक उपेक्षितों और शोषितों की पीड़ा का चित्रण है।

एक किसान के लिए सबसे महत्वपूर्ण उसकी जमीन होती है। ज़मीन उसके लिए मात्र एक भू स्थल नहीं बल्कि माँ होती है। वही ज़मीन उससे छीन ली जाए, उसे दाने दाने को तरसाया जाए तब उस किसान को कैसा दर्द होगा ? उसकी वेदना कैसे आर्तनाद करेगी ? इसी पीड़ा का गहन चित्रण इस फ़िल्म के केंद्र में है।

भारतीय परिवेश में कैसे एक किसान कर्ज के जाल में फंसता है। कैसे उस कर्ज़ की भरपाई और अपने अस्तित्व को बचाने के लिए उसका गांव से शहर को पलायन व किसान से मजदूर बनने की कहानी को बखूबी पेश किया गया।

सन 1953 की ये फ़िल्म आज़ादी के बाद नए नए हो रहे विकास की भेंट चढ़ रही ज़मीनों की ओर संकेत करती है। फ़िल्म का मुख्य पात्र शम्भू एक गांव में दो बीघा जमीन का मालिक है जमींदार एक शहर के ठेकेदार से मिलकर उस जमीन पर कारखाना लगाना चाहता है। यह बिंदु पूंजीवाद के अतिक्रमण का मूल है। शम्भू 65 रुपये का कर्ज जमींदार से लेता है। वह क़र्ज़ 65 रुपये से 253 में बदल गया। शम्भू इस अन्याय के विरुद्ध अदालत जाता है। न्याय व्यवस्था की सच्चाई भी उजागर हो जाती है जब शम्भू मुकदमा हार जाता है। उसे तीन महीने के अंदर क़र्ज़ चुकाने का हुक्म मिलता है वरना उसकी ज़मीन नीलाम हो जाएगी।

1. दूसरी फिल्म मदर इंडिया (1957) में आई- यह एक गरीब औरत राधा की कहानी है जो कई मुश्किलों का सामना करते हुए अपने बच्चों का पालन पोषण करने और बूरे जागीरदार से बचने की मेहनत करती है। राधा और शामू की शादी का ख़र्चा राधा की सास ने सुखीलाला से उधार लेकर उठाया था। इस के कारण गरीबी और मेहनत के कभी न खत्म होने वाले चक्रव्यूह में राधा फँस जाती है। उधार की शर्तें विवादास्पद होती है परन्तु गाँव के सरपंच सुखीलाला के हित में फैसला सुनाते हैं जिसके तहत शामू और राधा को अपनी फ़सल का एक तिहाई हिस्सा सुखीलाला को 500 के ब्याज़ के तौर पर देना होगा। अपनी गरीबी को मिटाने के लिए शामू अपनी ज़मीन की और जुताई करने की कोशिश करता है परन्तु एक पत्थर तले उसके दोनों हाथ कुचले जाते है इसी प्रकार उपकार (1967) फिल्म की कहानी राधा और उसके दो पुत्रों की कहानी है। राधा ग्रामीण महिला है। उसकी इच्छा अपने पुत्रों को पढ़ा-लिखा कर बड़ा आदमी बनाने की है। जिसके लिए वह अनेक कठिनाईयों का सामना करती है। साथ ही यह फिल्म अनाज की कालाबाजारी को भी प्रस्तुत करती है। लगान (2001) यह फ़िल्म रानी विक्टोरिया के ब्रिटानी राज की एक सूखा पीडित गांव के किसानो पर कठोर ब्रीटानी लगान की कहानी है। जब किसान लगान कम करने की मांग करते हैं, तब ब्रिटानी अफ़सर एक शर्त रखते है। अगर क्रिकेट के खेल में उनको गांव वासीओं ने पराजित किया तो लगान मांफ़। चूनौती स्वीकारने के बाद गांव निवासीओं पर क्या बीतती है, उन्हे किन-किन समस्याओं का सामना करना पड़ता है यही फिल्म में दर्शाया गया है।

पीपली लाइव 2010 को प्रदर्शित होने वाली एक बॉलीवुड फिल्म है।'पीपली लाइव' फ़िल्म को देखकर लगता है कि यह पत्रकारिता पर चोट करती है, फिर लगता है कि शायद अफ़सरशाही इसके निशाने पर है या फिर राजनीति सही मायने में यह फ़िल्म पूरी व्यवस्था के मुंह पर तमाचा है। ऐसी व्यवस्था जिसके पास मरे हुए किसान के लिए तो योजना है लेकिन उसके लिए नहीं जो जीना चाहता है. ये उन पत्रकारों पर तमाचा है जो लाइव आत्महत्या में रुचि रखते हैं तिल-तिल कर हर,रोज़ मरने वाले में नहीं, ये कहानी है उस भारत की जहां इंडिया की शान ख़त्म हो गई है। उस भारत की जो पहले खेतों में हल जोतकर इंडिया का पेट भरता था और अब शहरों में कुदाल चलाकर उसी इंडिया के लिए आलीशान अट्टालिकाएं बना रहा है. यह फ़िल्म एक इस बाअत का अहसास दिलाती है कि हम ऐसे भारत में रह रहे हैं। जो न तो हमारे टीवी चैनलों पर दिखता है और न ही हमारे नेताओं की योजनाओं में।

प्रेमचंद, भगवतीचरण वर्मा, पांडेय बेचन शर्मा, फणीश्वरनाथ रेणु, अमृतलाल नागर, चतुरसेन शास्त्री जैसे साहित्यकारों की रचनाओं पर भी फिल्में बनीं। भारत उन विकासशील देशों में से है जिनकी जनसंख्या का एक बड़ा भाग कृषि पर निर्भर है। इसी कारण दुनिया के नक्शे पर भारत को कृषि प्रधान देश माना जाता है। प्राकर्तिक संसाधनों की कोई कमी नहीं है, इसी कारण तकनीकी युग में भी खेती-बाड़ी कुछ लोगों का मुख्य व्यवसाय है। इसे विडंबना ही कहा जाएगा कि किसानों की समस्या पर आजकल हमारे साहित्यकारों और फिल्म जगत का कम ही ध्यान जाता है, बड़ी तेजी से हो रहे शहरीकरण के बावजूद भारत की अधिकांश जनता गांव में रहती है और उनका मुख्य व्यवसाय आज भी खेती-बाड़ी ही है।

अब गांव और खेती-बाड़ी एक योजना के तहत खत्म किये जा रहे हैं लोग रोजी-रोटी की खोज में शहर की तरफ पलायन कर रहे हैं। इसी तरह हिंदी के सहित्यकार का ठिकाना भी महानगर हो गये है और साहित्य भी ग्लोबलाईज हो गया है कुछ इस तरह का, की जो बाहरी दुनिया के लोगो को पसंद आए।

हमारा ग्रामीण वातावरण, गांव, संस्कृति, भाषा-बोलियां और जीवन स्थितियां जिन पर उत्कर्ष साहित्य लिखा जा सकता है परंतु इस सब की उपेक्षा की जा रही है, क्योकि हमारे यहां के साहित्यकारों को यश, पैसा, और पोलिटिकल पावर सब चाहिए। हिंदी साहित्य पर प्रारम्भ से कुलीनतावादियों का एकाधिकार रहा है 1900 से 1960 तक के सरस्वती अंक में किसान की त्रासदी पर एकाध कहानी ही मिलती है। श्रीनाथ सिन्ह की कहानी "गरीबोका स्वर्ग" (1934) में कुछ हद तक किसानी दर्द का चित्रण हुआ है। प्रेमचंद के समय में भगवान गांव में रहता था, यही कारण है

कि प्रेमचंद का लगभग पूरा साहित्य गांव और किसान जन-जीवन को आधार बनाकर लिखा गया है। फनीश्वरनाथ रेणु के साहित्य में भी किसान और उसकी पीड़ा,दुख-दर्द, समस्या एवं चुनौतियों को भी अभिव्यक्ति मिली है। बेचन शर्मा उग्र कहानी "अभागा" एक बेबस किसान के परिवार की आत्महत्या की कहानी है। यह त्रासदी आजादी के 70 वर्ष बाद भी समाप्त नहीं हुई है। साहित्यकारों का जमीन से कटने के कारण, किसानों की समस्या अब उनके लिए कोई मायने नहीं रखती। इसीलिए किसान संस्कृति लेखन में न के बराबर आ रही है रामस्वरूप अणखी, केशव रेड्डी, संजीव, विवेक राय,पुन्नी सिंह, गुरदयाल सिंह जैसे कुछ गिने-चुने लेखको के साहित्य में ही किसान संस्कृति दिख रही है। भावी पीढी में महेश कटारे ऐसे कवि है जो लगातार ग्रामीण परिवेश से जुड़े रहे है।यह चिंता की बात है कि आज हमारे साहित्य में किसानी जन-जीवन पूरी तरह से खत्म होता जा रहा है जिसके कारण किसान की समस्या, उसका हर्ष-विषाद और चरित्र सब समाप्त हो रहा है। बैंक कर्ज से कुर्की, सुखे और बाढ से फैसले तबाह, किसान बच्चों की दुर्दशा, भूख से मौत,बाजारीकरण और भूमण्डलीकरण से कम दाम में जमीन अधिकरण, खाद्यान्न,खाद,बीज और कीटनाशक पर कारपोरेटो का नियंत्रण, फैसलों के उचित दाम न मिलना, जल, किसानी यंत्र आदि के कारण किसनों द्वारा की जाने वाली आत्महत्या, किसान के परिवार का खत्म हो जाना, आर्थिक अभाव के कारण किसान के बच्चों का अपराधिक मामलो मे शामिल पाये जाना समाज से गांव, किसान और किसानी के समाप्त होने का जोरदार संकेत है।

सरकार ने किसानों की सभी समस्याओं के हल के लिए-'किसान चैनल' की शुरुआत की है। किसान चैनल पर सब अच्छा है मगर किसानों की दुर्दशा, खाद, पानी, उत्तम बीज, कीटनाशकों आदि की समस्याओं और कृषि उत्पाद का उचित मूल्य जैसे मुद्दे गायब है। कारपोरेट नजरिये से खेती-किसानी की प्रस्तुती पर किसान को भ्रमित हो रहा है। इस और भी सिनेमा और सहित्यकारों ने अपनी दृष्टि डालनी चाहिए। सिनेमा और सहित्य में किसानों के प्रति संवेदना का विस्फोट होना चाहिए। खेती-किसानी की बदलती संस्कृति, उसमें आती विकृति और सरकारी नीति पर साहित्यकारों की निगाह होनी चाहिए। पूरे देश का पेट पालने वाले किसानों के विकास में ही देश का विकास निहित है। यानी देश का विकास किसानी संस्कृति का विकास है और यह तभी संभव है जब देश व सरकार द्वारा किसान की समस्याओं को हल करने का पूर्ण प्रयास किया जायेगा।

संदर्भ:

1. इलेक्ट्रोनिक मीडिया एवं सूचना प्रौद्यौगिकी, डॉ यू.सी. गूप्ता, पृ. 88
2. वही, पृ. 88
3. हंस – फरवरी 2013, संपादक- राजेंद्र यादव, पृ.118
4. हिन्दी उपन्यास और भारतीय समाज का मध्यवर्ग,पृ.125
5. हिंदी उपन्यास साहित्य में स्वातंत्रायोत्तर भारत के उपस्थिति
6. सारस पत्रिका प्रवेशांक साहित्य में किसान, 4 जून 2017
7. प्रेमचंद और उनका युग, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1993,पृ.44
8. वही, पृ. 45
9. हिंदी साहित्य का इतिहास,आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2047 वि., पृ. 292
10. प्रेमचंद और उनका युग,रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,1993, पृ.5.6
11. वही, पृ. 96